□ अज्ञेय के निबंध
– मृण्मय के द्वारा चिन्मय की खोज

□ अरुणेश नीरन

अज्ञेय ने स्वयं अपने निबंधों के बारे में लिखा है, "मेरे निबंध न केवल मुझे समझने के लिए आवश्यक हैं, वरन् समकालीन लेखक मात्र की समस्याओं को एक व्यापकतर परिवेश में देखने के लिए भी अनिवार्य हैं।" वे दो तरह के लेखन से जुड़े रहे, एक तो समूह को संबोधित करने के लिए, दूसरा समय को संबोधित करने के लिए। अपने समय को और आने वाले समय को। इस समय और समूह को संबोधित करने के लिए उन्होंने कई विधाओं, कई कलाओं और भाषाओं का प्रयोग किया — कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वृत्तांत, आत्मचिन्तन, समीक्षा, अनुवाद, संपादन — प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने कौशल की साधना की क्योंकि वे कुशलता को ही कलाकार का चरम योग मानते थे।

यह योग उनके निबंधों में सधा है। इनमें वे कौतुकी, विचारक, सहृदय, चिंतक और क्षमता जोगी की विविध भूमिकाओं में उतरे हैं। अज्ञेय स्वाधीनता को महनीय मूल्य मानते थे। स्वाधीनता उनके लिए सिद्ध वस्तु नहीं, एक सतत जागरूक प्रक्रिया है। वे कहते हैं, "स्वाधीन होना अपनी चरम सम्भावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।" और साथ-ही उसकी कसौटी अपने लिए इसे पाना नहीं, दूसरे को स्वाधीनता प्राप्त हो, इसके लिए प्रतिबद्ध होना, प्रयत्नशील होना है। वह एक ऐसी चीज है जो निरन्तर आविष्कार, शोध और संघर्ष माँगती है। यहाँ तक कि उस शोध और संघर्ष को ही, स्वाधीनता की अंतहीन ललक को ही, उनके अनुसार, स्वाधीनता का सार-तत्व कह सकते हैं। अनेक अनुभवों ने स्वाधीनता की उनकी समझ बढ़ाई। कुछ अनुभव तो कलहाम या दिव्य-दर्शन जैसे जान पड़े। इंग्लैण्ड के एक अनुभव की उन्होंने चर्चा की है। एक हरी घाटी में घूमते हुए एक शिखर पर पहुँचते हुए उन्होंने एकाएक सामने देखा — खुली हरियाली में, उसके भव्य अकेलेपन में सीधा खड़ा हुआ एक महाकाय वृक्ष। इससे पहले उन्होंने ऐसा पेड़ नहीं देखा था — जो बिना किसी बाधा, बिना किसी आघात के अपने संपूर्ण परिपक्व विकास की चोटी पर पहुँचा हो। ऐसा वृक्ष, जिसकी डालियों या फुनगियों को उसकी किशोरावस्था में पशुओं ने नहीं कुतरा था, भौंरे सौलानियों ने उसकी दतुवन नहीं बनायी थी, लकड़हारों के प्रहारों से उसका अंग-भंग नहीं हुआ था। न सड़क और बिजली के मजदूरों ने सड़क की सीध या बिजली के तारों के बचाव के लिए उसकी कपाल-क्रिया की थी — एक ऐसा पेड़, जिसे वह आकार पा लेने दिया था, जो प्रकृति ने उसके लिए आयोजित किया था। जो अपनी आत्यंतिक वृक्षत्व की चरम संम्भावनाओं को प्राप्त कर चुका था। अज्ञेय अभिभूत हो गये। उस समय कोई शब्द उनके मन में नहीं गूँजा, क्योंकि कलहाम या दिव्य-दर्शन में शब्द होते ही नहीं, जो होता है वह शब्दातीत होता है। एक शब्दहीन विचार-ज़कर मन में गूँजा — स्वाधीन विकास, स्वाधीनता में विकास, स्वाधीनता की ओर विकास, अपनी चरम संभावनाओं की पूर्ण उपलब्धि।

वे पूछते हैं, "क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है?" क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी संपूर्ण संभावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है जिसमें दूसरे भी अपनी चरम संभावनाओं को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों। ठीक यहीं पर स्वाधीनता का यह बोध राजनीति की मंत्रणा बन जाता है, क्योंकि वह मानव-मात्र की समान स्वाधीनता के प्रयत्न की अनिवार्यता बन जाता है। स्वाधीनता सुविधा नहीं; युयुत्सा बन जाती है। अगर हम लेखक हैं तो हमारा उत्तरदायित्व हो जाता है कि हम स्वाधीनता के परिमण्डल के लिए संघर्ष करें। क्योंकि लेखक ऐसे समाज में स्वाधीन नहीं हो सकता, जो समाज स्वाधीन नहीं है। अज्ञेय कहते हैं कि जहाँ तक लेखक के उत्तरदायित्व या अधिकार की बात है, वह

वह शासन के मुकाबले में खड़े होकर ही सार्थक हो सकता है, कभी कभी सरकार से लड़ कर भी।

एक निर्वाचित प्रतिपक्षी की तरह अज्ञेय ने यह लड़ाई जीवन भर लड़ी है। कभी बोल कर, कभी चुप रह कर भी। अपने निबंध 'चुप की दहाड़' में वे लिखते हैं, 'चुप की भी एक दहाड़ होती है और अधिनायक अगर उसी सुन सकता है तो उसी से उसकी नींद हराम हो जाती है।' आपत्काल में अज्ञेय चुपचाप जर्मनी चले गये थे और उसके उठ जाने के बाद लौटे थे। लोगों ने इसे पलायन माना। हजारीप्रसाद द्विवेदी से भी आपत्काल में तटस्थ बने रहने की कैफियत माँगी गयी। द्विवेदी जी ने कैफियत देते हुए निबंध लिखा, 'भीष्म की क्षमा नहीं किया गया।' अज्ञेय ने लिखा, 'चुप की दहाड़' जर्मनी में एक दार्शनिक, जो नाज़ी अत्याचार झेल चुका था, ने अज्ञेय को बताया, 'वैसी टोटल अत्याचार के युग में यह जरूरी नहीं होता, कि कोई सामने आकर कुछ कहे ही, क्योंकि वह एक निष्प्रयोजन प्रदर्शन भी हो सकता है; लेकिन यह जरूरी होता है कि विरोध की बिरादरी बनी रहे। एक-दूसरे की पहचान बनी रहे और उसके भीतर परस्पर विश्वास बना रहे।' अज्ञेय कहते हैं कि मारटन का बौद्धिक चुप रहना हुआ न तो वास्तविक मूल्यों के प्रति उदासीन रहा, न उन्हें समाज में जीवित रखने के मामले में निष्क्रिय। और इसीलिए सरकार बौद्धिकों की उदासीनता और चुप्पी से शंकित और निराश थी। वे कहते हैं, 'चुप की यह दहाड़ लोकतंत्र में ही नहीं, साधारण जन और मानव-मात्र में हमारी श्रद्धा का आधार है।'

व्यक्ति की गरिमा और उसकी स्वाधीनता कैसे मूल्य को मानते हुए भी, वे इन मूल्यों की समझ और इन मूल्यों के लिए भावनात्मक संकल्प दूसरे तक पहुँचाने के लिए व्यग्र रहे। सम्प्रेषण की विवशता और आत्ममंथन की निरंतरता एक-दूसरे को सक्रिय करने वाले ऊर्जा-केन्द्र हैं। इसमें सबसे पहली सम्प्रेषण आता है। यह पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है कि जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुँचाया जाय। 'प्रयोग और प्रेषणीयता' में वे कहते हैं कि 'बहुत से लोग इस बात को भूल गये कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है — भाषा का क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की कैंचुल फाड़ कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सार्वजनिक अर्थ भरना चाहता है — और अहंकार के कारण नहीं, इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माँग स्पंदित है, इसलिए कि वह व्यक्ति-सत्य को व्यापक-सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावा से भर कर और जम कर जड़ हो गयी हैं, प्राण-संचार का मार्ग उन में नहीं है। भाषा, उनके लिए कल्पवृक्ष है। जो उससे आस्थापूर्वक माँगा जाता है, भाषा वह देती है।

अज्ञेय की लेखन-यात्रा में मोड़ चाहे जितने हों, एक निरंतरता, एक अविच्छिन्न प्रवाह है। उनके निबंधों में भीतर से एक मौलिक एकता है, इस अर्थ में है कि अपने को निरंतर पहचानते रहो, अपनी भाषा को पहचानते रहो, अपनी संस्कृति को पहचानते रहो। देश की परिस्थिति तुम्हारे नागरिक के रूप में क्या अपेक्षा रखती है, उस अपेक्षा को पहचानते रहो। अपने और परिवेश के बीच के रिश्ते को पहचानते रहो। इस पहचान को जब भी अनुभव करो कि इसे अपनी पास नहीं रख सकता, वैसे शब्द देते रहो, शब्द, जो सच के हैं, मिले तुमको हैं। संस्कृति, भाषा, व्यक्ति, समाज, साहित्य और समय के बारे में विचार करते हुए अज्ञेय ने जितना भीतर देखा है, उतना-ही बाहर भी देखा है। उनका निर्बाध चिंतन मूल्यों के प्रति नागरिक सजगता और अस्मिता की पहचान भी है। भाषा, इसलिए केवल हथियार नहीं, चेतना का संस्कार भी है।

संस्कृति और भाषा पर अज्ञेय ने बहुत चिन्तन किया है। वे कहते हैं कि संस्कृति में तीन चीजें आवश्यक होती हैं — हमें यथार्थ की पहचान हो, हमें अस्मिता की पहचान हो और हममें मूल्यबोध हो। ये तीनों संस्कृति की बुनियाद होती हैं और भाषा संस्कृति की बुनियाद होती है। एक समग्र अस्मिता का, एक आत्ममान का उपकरण या साधन भी भाषा होती है। 'भाषा और समाज' में वे भाषा की तीन शक्तियों की चर्चा करते हैं —

1. भाषा अपने को पहचानने का साधन है।
2. भाषा मूल्यों की सृष्टि करना संभव बनाती है।
3. भाषा के द्वारा हम यथार्थ की एक नये ढंग की पहचान कर सकते हैं।

ये तीन शक्तियाँ हैं — तीन रास्ते, अंतहीन रास्ते — जिन्हें भाषा हमारे सामने खोल देती है। अज्ञेय के मत से इन तीनों का जोड़ ही संस्कृति है। संस्कृति एक व्यापकतर चीज़ है और समाज उसका एक समय से बँधा हुआ

रूप है। संस्कृति एक व्यापक और दीर्घकालीन ढाँचा है जिसके अंदर हमारे समाज की भावना उदित होती है। जब तक संस्कृति की एक समग्र भावना बनी रहती है तब तक भाषा का अवमूल्यन नहीं होता। जब हम संस्कृति और समाज को डी में बाँट लेते हैं और एक का दूसरे के साथ शोषण का रिश्ता हो जाता है, वहाँ की भाषा का अवमूल्यन शुरू हो जाता है। क्योंकि समाज का बड़ा हिस्सा छोटे हिस्से का शिकार हो जाता है और बड़े हिस्से की भाषा में छोटे हिस्से के मुहावरे का शिकार हो जाती है। पूरी संस्कृति का अवमूल्यन होता है, इसलिए भाषा का अवमूल्यन होता है।

संस्कृति, भाषा, व्यक्ति और समाज के बाद वे व्यवस्था की चर्चा करते हैं। व्यक्ति व्यवस्था में जाता है। व्यवस्थित जीवन उसकी एक सामाजिक प्रेरणा है। इस मतवाद की वे परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि सर्वत्र स्वाधीनता और व्यवस्था में तनाव और संघर्ष की स्थिति है। कहीं-कहीं तो इस संघर्ष में स्वाधीनता का पक्ष ~~संघर्ष में स्वाधीनता का पक्ष~~ में पराहत हो चुका है — बल्कि कहीं-कहीं तो कुछ ~~संघर्ष में स्वाधीनता का पक्ष~~ बराबरी के संघर्ष का अवसर ही नहीं मिला। मानव समाज की ओर उद्योग अदम्य व्यवसाय की परिधि लगातार फैलती गयी है। संसार सिकुड़ कर छोटा होता गया है। कार्यदक्षता के तर्क के आगे और कोई तर्क नहीं चलता और यह तर्क अनिवार्यतः विराट संगठन, व्यापक नियंत्रण और साधन संपुंजित व्यवस्था की बात करता है। यह विराट संयंत्र जैसी व्यवस्था माँगता है, वह किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के भी बूते की बात नहीं रही, यंत्र ही वैसी व्यवस्था प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्ति ही शासन के सामने अधिकाधिक असहाय नहीं होता जाता बल्कि स्वयं शासन भी अधिकाधिक यंत्र के अधीन होते जाते हैं — शासन-तंत्र के भी और निरे यंत्र के भी।

अज्ञेय की चिंता है कि, 'अगर प्रगति की यही दिशा रहनी है तो व्यक्ति मात्र एक संगठित संचालित समाज की ओर — ~~कम्युटराइज्ड~~ कंप्युटराइज्ड सोसायटी की ओर बढ़ रहा है और शासन व्यवस्थाएँ भी कंप्युटराइज्ड मैनेजमेण्ट कण्ट्रोल में परिणत हो जाने वाली हैं। यह विकास का चित्र नहीं, विभीषिका है। एक भ्रष्ट व्यवस्था, एक जीर्ण, सड़ता हुआ और कम कम गंधाता हुआ समाज और उसके बीच एक मूल्यविहीन व्यक्ति या ऐसी व्यक्तियों का समूह — 'अकेलों की भीड़' — जिसे देखकर कभी कभी यह संदेह उठे कि क्या इन इकाइयों को स्वस्थ मानव-व्यक्ति कहना भी उचित है? इस मिट्टी से न महान व्यक्ति बनता है, न महान राष्ट्र, न महान संस्कृति। वे पूछते हैं, 'क्या हम मान लें कि इतनी-ही हमारी संभावना थी?' वे यह भी देखते हैं कि इस ओद्योगीकरण में हमारे देश में, हमारे पत्रों में चिंतन बिल्कुल मर गया है? हमारा देश मानो कपालरहित कबंधों का देश है। उनका विश्वास है कि चिन्तन को मारा है तो नारों ने — राजनीतिक नारों ने। राजनीतिक नारेबाजी के अस्त्र से हम सबने अपने सिर काट लिये हैं। कबंध वाले मिथक का निर्वाह करते हुए वे बताते हैं कि हमने अपने सिर अपने पेट में धँसा लिये हैं — चिन्तन के नाम पर कुछ होता भी है तो वह मेजों से नहीं होता, पेट से होता है।

राजनीतिक प्रतिबद्धता और प्रतिबद्ध लेखन सब के सब आपत्काल की आँधी में उड़ गये थे। डेरों के सारे खूँटे उखड़ गये। आपत्काल की घोषणा के बाद स्वतंत्र अभिव्यक्ति के दमन का जो दौर चला, उसमें तथाकथित प्रतिबद्ध साहित्य की कुचल देने और उस धारा को समाप्त करने में शासन-सत्ता को आधा दिन भी नहीं लगा। जैसे जादू के बल पर प्रतिबद्ध साहित्य की सारी प्रेरणा लुप्त हो गयी। साहित्य में राजनीतिक मुहावरे की और, रचना की ऐकांतिक राजनीतिक प्रतिबद्धता की, दुर्बलता का इससे अच्छा उदाहरण और कोई नहीं हो सकता। अन्याय का मुकाबला करने की शक्ति साहित्य को कहाँ से मिलती है? अज्ञेय का मानना है कि यह शक्ति राजनीतिक प्रतिबद्धता से नहीं, बल्कि किसी भी प्रतिबद्धता के अस्वीकार से आती है। रचनात्मक कर्म के वाक्य राजनीति से बड़े होते हैं। इसलिए दमन के युग में जो रचनाएँ बच जाती हैं, जिन्हें झुकाया या तोड़ा नहीं जा सकता, वे वही रचनाएँ होती हैं जिन्होंने मात्र राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण अपने को पंगु या नेदय नहीं बना लिया होता। उनका बल या उनकी प्रामाणिकता का स्रोत, राजनीति से कहीं बड़ा या गहरा होता है — राजनीति उस गहराई तक पहुँच ही नहीं पाती कि उसे अवरुद्ध कर सके। अज्ञेय की दृष्टि में वही यह स्रोत है जिसकी हमें फिर से पहचान करनी है। जिसके अवरोध हटाने हैं और जिस से फूटने वाली मुक्त धारा में अवगाहन करके नया बल पाना है। और इसके लिए आवश्यक है कि हम व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के स्वस्थ संबंध को

પહચાનેં। વ્યવસ્થા સ્વતઃ પ્રમાણ નહીં હૈ, ન સ્વયમ્ભૂ, ન આત્યંતિક પ્રમુતા-સમ્પન્ન — ઔર ઉસકા પ્રામાણ્ય સમાજ સે નિઃસૃત હોતા હૈ — ઉસ સમાજ સે, જો વ્યક્તિ દ્વારા પ્રસ્તાવિત ઉચ્ચતમ આદર્શોં કે પ્રકાશ મેં સામાન્ય આચરણ કે નિયમ નિર્ધારિત કરતા હૈ। સ્વતંત્ર વ્યક્તિ સમાજ સે સ્વતંત્ર નહીં; સમાજ મેં સ્વતંત્ર હોતા હૈ — પર સ્વતંત્ર ઔર વર્ધનશીલ સમાજ મેં। યહ સમ્બંધ રાજનીતિ સે બડ़ા, અધિક વિસ્તૃત ઔર અધિક ગહરા હૈ, વહ પૂરી સંસ્કૃતિ મેં વ્યાપ્ત હૈ ઔર ઉસકી જડ़ેં અદ્યાત્મ કી ભૂમિ મેં ફૈલી હૈં। અજ્ઞેય કહતે હૈં, 'સ્વતંત્રતા માનવ મન કા નહીં, માનવ આત્મા કા કુસુમન હૈ।'

'અથવન', 'શ્રોત ઔર સેતુ' 'યુગસંધિયોં પર' ઔર 'ધાર ઔર કિનારે' કે નિબંધ ભાષા, સંસ્કૃતિ, સાહિત્ય, સમાજ, શિક્ષા, વિજ્ઞાન, ઇતિહાસ કે ગલિયારે મેં ઘૂમતે હુએ ઉસ સાંસ્કૃતિક દાય કો, ઉસ દાય સે પ્રાપ્ત વિશ્વ-દૃષ્ટિ કી ખોજ કરતે હૈં, જો બહુ વૈચારિક પ્રતિબદ્ધતા મેં નહીં; સાર્વદેશિકતા ઔર સર્વકાલિકતા મેં ખિલ કર મનુષ્ય કો સ્વતંત્ર કરતી હૈ।

oo

અજ્ઞેય બહુત સચેત રૂપ સે સામાજિક દાયિત્વ કી પૂર્તિ કે લિએ બહિર્મુખ હુએ ઔર ઉન્હોંને યહાં-વહાં ઐસી વ્યાખ્યાન દિયે, જો માનવીય અસ્મિતા, વ્યક્તિ ઔર સમાજ કે સમ્બંધ તથા સંપ્રેષણ કે નયે સવાલોં કો ઉઠાને વાલે થે, સાથ-હી ભવિષ્ય કે સમાધાન કે લિએ કુછ વિકલ્પ ભી દેને વાલે થે। 'ઇતિહાસ ઔર સ્વાતંત્ર્યબોધ' 'અકેલી યાત્રા કી દેહરી પર' 'નિરંતરતા ઔર સ્વતંત્રતા' 'શિક્ષા: જોડ़ને વાલી યા તોડ़ને વાલી' 'અપની ચરમ સંભાવનાઓં કી પહચાન' 'પ્રાસંગિકતા કા પ્રશ્ન' 'વ્યક્તિ ઔર વ્યવસ્થા; વ્યક્તિ ઔર સમાજ' 'શિક્ષા: સાંસ્કૃતિક સંદર્ભ' 'વિરાટ કા સંસ્પર્શ' 'શિક્ષા ઔર જાતિ-વિચાર' 'અકાદેમિયાં ક્યા કરેં?' 'માનવ; પ્રતીક પુરુષ' 'સંસ્કૃતિ કી ચેતના' 'બાલજગત કી દેહરી પર' 'સમગ્ર પરિવેશ કી રાજનીતિ' જૈસે વ્યાખ્યાન-મૂલક નિબંધોં મેં ઉનકા વૈચારિક ગદ્ય ચિન્તન કે નયે ગવાક્ષોં કો તો ખોલતા હી હૈ, અપની ચરમ સંભાવનાઓં કી તલાશ ભી કરતા હૈ। ગોકુલદાસ મહાવિદ્યાલય, મુરાદાબાદ મેં છાત્રોં કો સંબોધિત કરતે હુએ વે કહતે હૈં, 'ક્રાંતિ ભી કેવલ નિષેધોં કે સહારે નહીં ચલતી, ઉસમેં ભી નૈતિકતા કી — વિવેક પર આશ્રિત નૈતિકતા કી આવશ્યકતા હોગી। સફલ ક્રાંતિ સે નૈતિક મૂલ્ય નિરસ્ત નહીં હો જાતે, ઉન્હેં નયી ક્રાંતિકારી પ્રાણવત્તા મિલતી હૈ ઔર ઉનકે પાલન કા અતિરિક્ત આગ્રહ હોતા હૈ, વાની નયી આસ્થા પનપતી હૈ।... નૈતિકતા કે સિવા નૈતિકતા કી દૂસરી ગારંટી નહીં હૈ ઔર વહ નૈતિકતા વિવેક સે નિઃસૃત હોતી હૈ। ઇસસે બડ़ી કોઈ ક્રાંતિ નહીં હો સકતી, ક્યોંકિ ક્રાંતિ દૂસરોં કો બાંધ કર નહીં હોતી, અપને કો મુક્ત કરકે હોતી હૈ।'

આત્મપરક નિબંધોં મેં અજ્ઞેય સ્વયં સે સંવાદ કરતે હુએ ઔરોં કે રૂપ મેં આતે હૈં। અપની પીડ़ા યા ચિન્તા કો મૂલક દેને કે સાથ અપને પર હી હઁસતે યા વ્યંગ્ય કરતે હુએ। 'અંશદાન' મેં વે કહતે હૈં, 'મુઝસે અચ્છે લડ़ૈત હૈં। તોડ़ને-ફોડ़ને, નષ્ટ-ભ્રષ્ટ કરને, મારને-કાટને કે કામ કી મુઝસે કહીં અધિક યોગ્યતા રખને વાલે અનેક લોગ હૈં। નિઃસંદેહ મુઝમેં પ્રાગૈતિહાસિક પશુ માનવ યા માનવ-પશુ કી સહજ વૃત્તિયાં હૈં, ઔર ઉન વૃત્તિયોં પર આશ્રિત એક જીવન મેરા ભી હૈ... શાયદ તુમ મુઝે મૂર્ખ સમઝો। યદિ ઐસા સમઝો તો મેં ખોજૂંગા નહીં... ક્યોંકિ બિલ્કુલ સંભવ હૈ, વહ ધારણા ઠીક હો — સ્વયં મુઝે કભી-કભી વૈસા સંદેહ હોતા હૈ।' યા, 'અજ્ઞેય: અપની નિગાહ મેં' કા યહ કથન, 'પુરાતત્ત્વવેત્તા કી છાયા મેં અકેલે રહને કા એક લાભ અજ્ઞેય કો ઔર ભી હુઆ હૈ। ચાહે વિરોધી કે રૂપ મેં, યા પાલક કે રૂપ મેં, વહ બરાબર પરંપરા કે સંપર્ક મેં રહા હૈ। રૂઢિ ઔર પરંપરા અલગ-અલગ ચીજેં હૈં, યહ ઉસને સમઝ લિયા હૈ। રૂઢિ વહ તોડ़તા હૈ ઔર તોડ़ને કે લિએ હમેશા તૈયાર હૈ। લેકિન પરંપરાએં તોડ़ી નહીં જાતીં, બદલી જાતી હૈં યા આગે બઢ़ાયી જાતી હૈં, ઐસા વહ માનતા હૈ ઔર ઇસી કે લિએ પ્રયત્નશીલ હૈ। કહના સહી હોગા કિ વહ 'મયકિવાન વિદ્રોહી હૈ।' 'અજ્ઞેય હિન્દી કે હાથી કા દિખાને કા દાંત હૈ। યહ દિખાને કા દાંત ચાલાની માલ (એસસીઈ કૉમોડિટી) કે રૂપ મેં બરાબર બાહર રહા હૈ લેકિન હર બાર ઇસલિએ લૌટ આયા હૈ કિ અંતતોગત્વા વહ ભારતીય હૈ, ભારત કા હૈ ઔર ભારત મેં હી રહેગા।' 'કુટ્ટિચાત્ત વિનોદન' ઔર ~~ઔર~~ 'હોઆ પ્રકરણ' કે અજ્ઞેય એક અલગ અજ્ઞેય હૈં — ખિલંદડ़ે, રસ સે ભર કર અર્થક્રીડ़ા કરતે હુએ। મનુષ્ય કો કૈસી સ્વતંત્રતા ચાહિએ? અપને અનુભવ સે વહ બતાતે હૈં, 'શાયદ હી કોઈ ચાહતા હૈ કિ 'વહ' મુઝસે અધિક અક્લમંદ હો। પર મુશ્કિલ યહ હૈ કિ 'વહ' ઇસ બાત કો ખૂબ સમઝતા હૈ। ઇસલિએ વહ કમઅક્લા બન કર-હી વહ સામને આતા હૈ।

પુરુષ ની રવુશા ઔર વહ ની વિજયિની। અબ ઇસે કમઅક્લી કહા જાય યા અક્લમંદી? કસૌટી ક્યા હૈ, અપની સ્ત્રી કી? સ્ત્રી કો કમ સે કમ ઇતને રૂપ ધારણ કરને મેં સમર્થ હોના-હી ચાહિએ : (૧) બચ્ચોં કી માતા (૨) બૌદ્ધિક સહયોગિની ઔર સખી (૩) ઉદ્યમશીલ ઔર પરાક્રમી શિકારી કી સાથિન ચ્યાની કહેં, જીવન-સંગ્રામ મેં લડ઼ સકે, લડ઼ને કો ઉત્સાહિત કર સકે ઔર સંઘર્ષ મેં જય કી હુઈ વસ્તુ કી નિધિ હો સકે (૪) નુમાયશી કલા કી કોમલ વસ્તુ ચ જિસે યત્ન કે સાથ સંભાલ કર રખા જા સકે) (૫) દિલબોનાર જિસકે સાથ ખેલ કર મનોરંજન કિયા જા સકે ઔર બાલ-ભાવના કી તૃપ્તિ કિયા જા સકે ઔર (૬) રક્ષિકા ચવહ મજબૂત લકડ઼ી, જિસ પર વક્ત પડ઼ને પર ભરોસા જા સકે, જો સંભાલે)।

બગીચે મેં શારદીય તીસરે પહર કી ધૂપ ... ધુલા પત્તિયોં પર ખેલતી ધૂપ કી ઑંખ-મિચૌલી ઔર માનસ-ક્ષિતિજ પર એક શબ્દ કા ઉદય : શાંતિ... । વહ એક બહુત બડ़ી ઇકાઈ હૈ, નહીં, એક બહુત છોટી ઇકાઈ — જિસમેં બડ़ી-બડ़ી ઇકાઇયાઁ ડૂબ જાતી હૈં। વૈસા-હી ઇકાઈ જૈસી યહ છોટી-સી પત્તી ઔર ઇસ પર ખૂલતી હુઈ શારદીય તીસરે પહર કી ધૂપ। અજ્ઞેય કે લિએ યહ શારદીય ધૂપ એક પરિણામ હૈ જો જીવન ઔર શાંતિ કે સમ્બંધ કો અમાન્ય નહીં કરતા ક્યોંકિ વહ જીવન કો ભી ઔર શાંતિ કો ભી મિથ્યા નહીં કરતા। જીવન હોને કી એક દશા હૈ, ઔર શાંતિ હોને કી અનુભૂતિ કી ઔર અનુભાવક કી એક દશા — સહજ, સ્વસ્થ, સ્વ-પૂરક, સ્વ-ધૈર્યક, આત્મ-ભરિત ઔર સ્વતઃ સંપૂર્ણ દશા।

oo

અજ્ઞેય કે સભી નિબંધ 'અપને' વિષય મેં હૈં, અપને વ્યક્તિ કે, અપને જીવનાનુભવ કે, રચના-પ્રવૃત્તિ કે, વિશ્વાસોં, ઉમંગોં, ઉદાસિયોં ઔર ઉન સૂક્ષ્મ તત્ત્વોં કે, જિન્હેં વે અપને સ્વાધીન-કર્મ કે બુનિયાદી મૂલ્યોં કા પ્રતિમાન માનતે થે। નયી સાહિત્યિક પ્રવૃત્તિયોં કે પ્રતિષ્ઠાપન કે લિએ ઉન્હોંને આલોચનાત્મક નિબંધ લિખે ઔર એક નયી સાંસ્કારિકતા કા સૂત્રપાત કિયા। યહ સહી હૈ કિ અજ્ઞેય કે નિબંધ સંક્રમણકાલીન સંઘર્ષ કી ચેતના કે દસ્તાવેજ હૈં જિન્હેં ઉન્હોંને અપને અનુભવ કી ભઠ્ઠી મેં તપા ઔર ગલા કર ઢાલા હૈ। સમય ઔર સમૂહ કો સંબોધિત ઇન નિબંધોં કે વક્તા ઔર શ્રોતા — દોનોં — અજ્ઞેય હી હૈં। ઇનસે ભારતીય સાહિત્ય કી આધુનિક ચેતના કો એક રાહ મિલતી હૈ ઔર આધુનિકતા કો પરખને કે લિએ દેશકાલ કા ચૌખટા ભી — જો અપને પાર ફિરને વાલી પૂર્ણ સ્વાધીનતા કા એહસાસ ભી।

વે મૂઢમય મેં ઘૂમતે હુએ ચિન્મય કી ખોજ કરતે હૈં। મૂઢમય બોલતા હૈ, ચિન્મય ચુપ રહતા હૈ। ઇસીલિએ વે મૌન મેં બોલતે હૈં। ઉનકે ભીતર સત્ય કો પકડ़ને સે અધિક સત્ય હો લેને કા ભાવ મિલતા હૈ। અસાધ્ય વીણા' કે પ્રિયંવદ કી તરહ — જો અપને કો વીણા કે પ્રતિ નહીં, બલ્કિ વીણા જિસ વિશાલ 'કોરોદો-તરુ' કી બની હૈ, ઉસ વિશાલ તરુ કે સ્વર-સમ્ભાર, નાદમય સંસ્કૃતિ ઔર રસપ્લાવન કે પ્રતિ વિનમ્ર રૂપ સે સમર્પિત હૈં। વે જ્ઞાન મેં નહીં, જ્ઞાતા મેં અર્થ પાતે હૈં ઔર સમાધાન પાતે હૈં 'મૈં' યા 'હમ' મેં નહીં — 'મૈં' ઔર 'હમ' કી એકાત્મકતા મેં। વે જિતને મૌન હૈં, ઉતને-હી સંવાદ સ્થાપિત કરને કે લિએ વ્યાકુલ। ઇન નિબંધોં કે દ્વારા વે સમય ઔર સમૂહ સે સંવાદ કરતે હૈં। પર વે સંવાદ વે સંવાદ કે લિએ કરતે હૈં, મમેતર મેં 'મમ' કો પાને કે લિએ નહીં। સંવાદ મેં ભાષા યદિ બાધક હૈ તો વે મૌન સે સંવાદ કરતે હૈં ઔર અક્સર ઉનકા મૌન વહ સબકુછ કહ દેતા હૈ, જો ભાષા નહીં કહ સકતી।

□□

દેવરિયા રનિવાસ
દેવરિયા - ૨૭૪૦૬૧. ૩.પ્ર.
મોબા. - ૦૯૪૫૧૪૬૦૦૩૦.